AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

आज की सांस्कृतिक चुनौतियाँ और आदिवासी जन–जीवन

ORIGINAL ARTICLE

Author
डॉ. वन्दना चौबे
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज
वाराणसी, उत्तरप्रदेश, भारत

शोध सार

सबाल्टर्न स्टडी के रूप में आज हाशिये के समाज पर चिंतन मनन जरूर शुरू हुए लेकिन अनेक बार यह अनुशासन एक खानपूर्ति बनकर रह गया जिससे कहने को तो आदिवासी शामिल हो जाएँ लेकिन जमीं पर उनके सरोकार क्या है, कैसे हैं–उससे कोई मतलब नहीं रखा जाता, कागज का पेट जरूर भर जाता है, आदिवासी भले दर–बदर हो जाए।

मुख्य शब्द

आदिवासी, जनजीवन, समाज.

प्रस्तावना

आदिवासी समाज अपनी मुख्य समस्या कोड़ा जाना यानी आदिवासी समूहों का गाँव से शहरों की ओर पलायन करना को लेकर आज सर्वाधिक मुखर हुआ है। आधुनिकीकरण का प्रभाव में कौन सा समुदाय विकसित हो रहा है और कौन सा समुदाय हाशिये की तरफ धकेल दिया जा रहा है, यह चिंतनीय है। आदिवासी अपनी पानी–माटी, अपनी जड़ से कटते जा रहे है।

"गाँव की पगडंडी को
शहर की ओर खुलने वाले
जिस रास्ते ने बीच से काट डाला था
वह रास्ता बढ़ते–बढ़ते
अखड़ा, धुमकुड़िया होते हुए
घर के चूल्हे तक पहुँच चुका था।"

अंधाधुंध नगरीकरण और विकास के नए पैमानों ने मनुष्य को अमानवीकृत किया है। ऐसा नहीं है कि विज्ञानं और तकनीक का विरोध किया जाय लेकिन यह देखना जरूरी है कि विज्ञान आखिर किसके लिए? क्या वह समूची मानवता के विकास की गति को आगे बढ़ा रहा है या कुछ चुनिंदा धनकुबेरों के हाथ का औजार बनकर रह गया है जिससे वे मानवता को जब चाहे जिस गर्त में धकेल दें।

प्रस्तुत आलेख आदिवासी संस्कृति की आदिम वैज्ञानिकता से सेलेक्टिव आधुनिक वैज्ञानिकता को रेखांकित करता है। विज्ञान किसी एक समूह–समुदाय की सेवा में लगकर किस तरह तमाम संस्कृतियों को नष्ट कर सकता है। आदिवासी जीवन की सामूहिकता और संस्कृति इस अंधी दौड़ पर एक सवाल है।

आदिवासियों को व्यवस्था और सरकारें अति–पिछड़े समुदायों की गिनती में रखती हैं, वह चाहे दस्तावेज हों या व्यवहारिक जीवन–सिद्धांत की कसौटी हो। चेतन–अवचेतन की इन्हीं मानसिकताओं के कारण हम आदिवासियों

को सभ्य बनाने चलते हैं। संघ परिवार इन्हें इनके मूल निवास से काटकर 'वनवासी' कहता है और मानता है कि ये बर्बर–असभ्य जातियां जिन्हें धर्म–कर्म आदि का बोध नहीं तो इसमें इनकी क्या गलती! हम इन्हें सभ्य और धार्मिक बनाएंगे।

दूसरी ओर भारत सरकार इन्हें 'जनजाति' कहती है! अंग्रेजी में 'ट्राइबल'!

यूरोपीय समाज की अवधारणा में सेवेज शब्द जिसे सैद्धान्तिक रूप से ट्राइबल करार दिया गया। प्रकृति पर निर्भर, सभ्य–समाज से विलग कुछ प्रजातियां। इन सभी नामों और अवधारणाओं के पीछे अपनी–अपनी राजनीति है। दरअसल इस सभ्य बनाने वाली सभ्यता में वर्चस्व की राजनीति बेहद महीन औजारों के साथ काम करती है। इन्हीं हथियारों के सहारे सभ्यताओं के बनने की प्रक्रिया हमने भरसक असभ्यताएँ विकसित कर डाली हैं। सामंती समाज के बाद पूँजीवादी समाज भयत रंग–रोगन, खतरनाक और बनावटी लोकतंत्र के साथ इस तरह का तंत्र रचने में कामयाब हो रहा है जिसमें दलित और आदिवासी जन भी अपनी मौलिक जमीन छोड़कर उस बहाव–भटकाव में उलझ गया है।

इन सब के बीच सबसे अस्थिर, अविश्वसनीय और ढुलमुल रवैया मध्यवर्गीय मानस का हुआ है। उच्च वर्गीय अकर्मण्य पूंजीवादी वर्ग तो अपनी स्थिति में स्पष्ट रहता है लेकिन आदि–जन के प्रति 'अन्य' और निचलेपन की भावना प्रसार सर्वाधिक तरीकों से मध्य वर्ग करता रहा है। मार्च 2006 में जब सरकार ने आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा की थी तब पढ़े–लिखे कैरियारिस्ट युवाओं ने कैसी प्रतिक्रिया दी थी, इसकी पड़ताल हमारे समय के प्रखर विचारक काँचा आइलैया अपनी किताब 'हमारे समय मे श्रम की गरिमा' में तार्किकता से करते हैंः–

''सुविधा सम्पन्न जातियों के उन विद्यार्थियों ने रैली कीं और धरने दिए जो केंद्रीय संस्थानों में चिकित्सा, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों में इंजीनियरिंग और भारतीय प्रबंधन संस्थानों में प्रबंधन पाठ्यक्रम की पढ़ाई कर रहे थे। यह अपने आप मे कोई समस्या नहीं थी। अटपटी और विचलित करने वाली बात यह थी कि उन्होंने विरोध के रूप में सड़कों पर झाड़ू लगाना, जूते पॉलिश करना और सब्जियां बेचना शुरू कर दिया। उन्होंने इस वैश्वीकृत युग मे ऐसा किया पर निश्चित ही उन्होंने न तो जूते बनाए, न सड़को पर बैठकर बर्तन बनाए और न ही झाड़ूएँ बनायीं। वे जूते, बर्तन या झाड़ू बनाने में असमर्थ हैं, न ही उन्होंने पशुओं की लाशें हटाई जो उस दौरान दिल्ली में मरे होंगे।

स्वांग की तरह सड़कों पर झाड़ू लगाने, जूते पॉलिश करने और सब्जियां बेचने जैसे सांकेतिक कामों का आश्रय लेके छात्र इस तथ्य को प्रदर्शित कर रहे थे कि वे श्रम को गरिमापूर्ण नहीं मानते। उनका भय झलका कि एक दिन उन्हें झाड़ू लगानी पड़ेगी, जूते चमकाने पड़ेंगे, बर्तन बनाने पड़ेंगे। उन्हें जबरन ऐसे काम करने पड़ेंगे जिन्हें वे गहरी हिकारत से देखते हैं।''

इस तरह हम देखते हैं कि धर्म आधारित बनी हुई तथाकथित सभ्यता हमें असभ्यता के किस कगार पर ले आई है। जाति और वर्गगत असमानता श्रम के प्रति घृणा की भावना पैदा कर रही है। अब पूंजीवाद उसमें और बारीक काम कर रहा है।

दूसरी ओर यह भी गौरतलब है कि पूंजीवाद की पैदाइश इस समाज खासतौर पर मध्यवर्ग ही सबसे ज़्यादा ऑर्गेनिक भोजन, आदिम सभ्यता के प्रति खोखले मोह और जंगल जीवन को एडवेंचरस बनाने जैसे नकली उपक्रम में भी लगा हुआ है।

दरअसल तथाकथित जिस सभ्यता–संस्कृति की तहें हमने आज तक बनाई हैं, आज हम उस दुश्चक्र में बेहद बारीक ढंग से हम फंस गए हैं। धरती और दुनिया को बचाना है तो हमें आदिवासी जीवन को समझना होगा, उन्हें खुद के दुश्चक्र में शामिल न करके हमें उसमे शामिल होना होगा।

मार्क्स का आदिम साम्यवाद निश्चित ही आधुनिक और वैज्ञानिक स्वरूप का होगा, लेकिन उसकी बुनियाद इन्हीं आदिम आदिवासी जीवन की तरह का होगा।

अपनी एक कविता में मुक्तिबोध कहते हैं–

'हम आदिवासी जन बहुत बहुत अनुभवी
अनेकविध फल चखकर बार बार
हमने ही दुनिया में प्रथम बार
खाद्य–अखाद्य सब ठहराया
मनुष्य का भोजन निश्चित किया
हम आदि वैज्ञानिक!!'

आदिवासी आज भी लगभग 10,000 वन्य–पौधों की प्रजातियों के प्रयोग करते हैं जिनका उपयोग औषधि, कीटनाशक, सौंदर्य–प्रसाधन और रंगाई आदि अनेक कामों के लिए होता है।

हमारी सभ्यता उन आदिवासियों को भूल चुकी है जिनके अदम्य साहस और बलिदान से देश की आजादी और विकास संभव हुआ। हमारे ये आदि–जन अपने साहस, बुद्धि और अनुभव के आधार पर खाद्य–अखाद्य की जाने कितनी चीजे बता गए हैं लेकिन उनका यह सब बुनियादी उद्यम ताकतवर और ताकत के बल पर बना पढा–लिखा बुद्धिजीवी समूह अपने खाते में डाल लें रहा है। सरदार सरोवर परियोजना के विस्थापित एक आदिवासी को याद करते हुए प्रख्यात चिंतक और लेखक अरुंधति रॉय कहती हैं–

'वह मेरे लिए उन फलों की सूची बना रहा था जिन्हें वह जंगल से इकट्ठा किया करता था। उसने 48 प्रकार गिनाए। उसने मुझसे कहा कि उसे भरोसा नहीं था कि वह या उसके बच्चे फिर कभी कोई फल खा पाएँगे।'

इस तरह अनेक ऐसे काम और पेशे हैं जिन्हें हमने किया नहीं लेकिन अपने या अपने समुदायों के नाम कर विज्ञापित करते रहे हैं, दरअसल आदिवासियों की देन है। देश का 90 प्रतिशत उद्योग बुनियादी तैर पर आदिवासियों के श्रम के आधार पर चल रहा है। आदिवासियों की जमीन खरबों के खनिज दबे हुए हैं! उनके जंगलों में कीमती वन्य जीव कहैं कुलांचे भर रहे हैं।

दुनिया की सरकार पोषित पूंजीवादी ताकतों खनन माफियाओं की गहरी घात लम्बे समय से उनके जल, जंगल जमीन पर लगी हुई है। सरकारें आदिवासियों का धार्मिककरण कर और उन्हें बाजार और सभ्यता के चमकीले लोभ–लालच देकर उनका ध्रुवीकरण करती है। विभिन्न आदिवासी समूहों को आपस मे लड़वाकर उनकी सामूहिकता को विभाजित करती है और इस तरह उन्हें कॉरपोरेट परस्ती की ओर धकेल देती है। आदिवासी संस्कृति चूँकि सामूहिकता की शक्ति पर बनी है अतः श्रम ही उसकी ताकत है. श्रम के संगीत से आदिवासी कविताएं निखरी हुई है जहाँ मनुष्य अपने तेज और गरिमा के साथ संघर्षरत है. देखिये, हिंदी ऊर्जावान कवयित्री जसिंता केरकेट्टा कैसी कविता लिखना चाहती हैं. इसमें श्रम और स्त्री की कितनी रचनात्मक भागीदारी हैः

"कैसी कविता लिखना चाहती हूं मैं
ऐसी कविता लिखना चाहती हूं
जो गांव में लेदरा सिलती
मेरी मां के हाथों की सूई की तरह हो
सीधी और नुकीली
इसी तरह
हर कटी–फटी चीज जोड़ी जा सकती है
और हर गलत सिलाई उधेड़ी जा सकती है."

वन्य–संरक्षण और पर्यावरण चिंता के नाम पर सरकारें और कॉरपोरेट आदिवासियों के जंगलों को अपनी गिरफ्त में लेकर फॉरेस्ट सेंचुरी और नेशनल पार्क बनवा कर मोटी कमाई करते हैं और माफिया विकसित करते हैं। इसके बावजूद आदिवासियों को जंगल और पर्यावरण का दुश्मन बताकर उन्हें खदेड़ते हैं। उनके इलाकों में पुलिस और अधिकारी बिठाकर जघन्य अपराध किए जा रहे हैं।

कुछ लोग आदिवासियों को मूल निवासी न समझकर 'वनवासी' भी कहते हैं और ये मानते हैं कि आदिवासी जंगल मे रहने वाले बर्बर, असभ्य लोग हैं! यदि उनमें धर्म–कर्म और सभ्यता–शिक्षा का बोध नहीं तो यह हमारा काम है कि हम उन्हें सभ्य बनाएं। सभ्य बनाने की इसी प्रक्रिया का परिणाम था कि एक समय पर उड़ीसा में दलितों और आदिवासियों के बीच सीधा टकराव हुआ, विश्व हिन्दू परिषद के इसाई विरोध मुहिम में बड़ी संख्या में आदिवासियों भूमिका निभाई और गुजरात दंगों में आदिवासियों की ऐसी भूमिकाएं सामने आईं। आगे चलकर अयोध्या के लिए भी उन्हें लामबंद किया गया। प्रचार यह भी किया गया कि आदिवासी भटके हुए पीछे रह गए हिन्दू हैं। यह लामबंदी इतनी खतरनाक है कि 1987 में पहली बार आदिवासियों और मुसलमानों के बीच हमले भी होने लगे। हालांकि पंचमहल हमले में बाद में यह भी साबित हुआ कि आदिवासियों को धन और बाजारू चीजों का लोभ देकर भड़का कर लामबंद किया गया था।

इस तरह की राजनैतिक लामबंदी दलितों के बाद बड़ी संख्या में आदिवासियों की ही हो रही है। वनवासी कल्याण आश्रमों की बड़ी संख्या में स्थापना हुई।

उन्हें सभ्य बनाने के नाम पर आजादी के बाद से और विशेष रूप से उदारीकरण के बाद जो स्थितियां बनी वह सामने हैय हालांकि हम उससे लगातार आँखें चुराते हुए आदिवासियों को 'वीर' और आजादी के नायकों में कहीं–कहीं शुमार कर लोकतंत्र और समता आदि पर अनेक विमर्श कर रहे हैं।

हमारे इस सभ्य समाज की स्थिति आज यह हो चली है कि गौमांस के शक होने पर हम मनुष्य की जान तुरंत लेने पर उतारू हैं। देश मे ऐसे साम्प्रदायिक कट्टरता की घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। ऐसे में हमें आदिवासियों से सीखना चाहिए कि बिल्कुल विपरीत आचार–विचार वाले जन के साथ सामूहिकता का विकास कैसे होता है।

आलोचक वीरभारत तलवार कहते हैं–

''मुंडा आदिवासियों में एक गोत्र है–तोपनो। इसका टोटम है, 'हऊ'! जंगल के पेड़ों पर लाल–लाल चूंटे रहते हैं जो सफेद अंडा देते हैं।मुंडारी भाषा मे इसी चूंटे को हऊ कहते हैं। इसे खाया जाता है लेकिन तोपनो गोत्र के मुंडाओं के लिए यह पवित्र है, उनके वंश की उत्पत्ति इसी से हुई है इसलिए तोपनो मुंडा हऊ नहीं खाते जबकि दूसरे मुंडा खाते हैं और तोपनो मुंडाओं के सामने ही खाते हैं। इस पर तोपनो मुंडा अपने पवित्र माता–पिता की रक्षा के लिए उनसे दंगा नहीं करते।''

प्रसिद्ध युवा कवि अनुज लुगुन अपने एक साक्षात्कार में बताते हैं कि आदिवासियों के यहाँ किसी बात का प्रतिवाद या विरोध बहुत रचनात्मक होता है। वे विरोध भी नृत्य और संगीत के साथ करते हैं। ये है उनकी सांस्कृतिक धरोहर। पार्वती तिर्की लिखती हैंः–

'उन्होंने गीत गाते हुए धरती से साहचर्य निर्मित किया, गीत गाने वाले समूह ने पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए, आकाश और धरती के मध्य समरसता स्थापित की।"

आदिवासी जीवन मे नृत्य मुक्ति का एक रचनात्मक रूप है। नृत्य उनके जीवन सर्वाधिक अंतरग हिस्सा है। अफ्रीकी जनजातियों के लिए इस बात का रेखांकन किया जाता है कि वे अपनी जरूरत के लिए सामान्यतः किसी पेड़ को नहीं काटते बल्कि उस पेड़ के इर्द गिर्द सामूहिक रूप से नाचते–गाते हुए कुछ अपशब्द कहते हैं और पेड़ कमजोर होता जाता है। इस तरह नृत्य संगीत उनके जीवन के हर हिस्से से जुड़ा हुआ है।

प्रख्यात नृत्यांगना इजाडोरा डंकन अपने नृत्य के विषय मे कहती हैं कि उन्होंने नृत्य किसी से नहीं सीखा, जो भी सीखा प्रकृति से सीखा। नदियों की लहरों, पत्तों सरसराहटों और वृक्षों की झूम देखकर उनकी देह में लय और गति पैदा होती थी। वे मानती हैं कि नृत्य सीखा ही नहीं जा सकता हैय वह बस आता है। विद्रोही मीरा भी अपने नृत्य के माध्यम से राजपूताने शौर्य को चुनौती देती हैं नृत्य और प्रेम के कारण ही समाज ने मीरा को 'बिगरी नारी' कहा और उनकी हत्या की।

भयावह पूंजीवादी संकट के दौर में सबसे भीतर तक प्रभावित है हमारा सांस्कृतिक–बोध। पूंजीवाद ने हमारे

अवचेतन तक इस तरह नियंत्रित किया है कि सामूहिक भाव–बोध का अनुमान तक नहीं लग पा रहा है। यह संकट अभी अपने चरम पर जाना बाकी है।

पृथ्वी के संसाधन कुछ ताकतवर लोगों के हाथों में हैं और वे मुनाफे के लिए वे जमकर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर रहे हैं। मानविकी और विज्ञान जैसे अनुशासन भी मुनाफाखोरों के नियंत्रण में है। वैज्ञानिक खोजें उन्हीं के लाभ को दो–गुना, चौगुना करने का साधन बनते जा रहे हैं। ऐसे में सामूहिक जीवन शैली की परंपरा कहीं है तो वह आदिवासी जीवन–जगत में ही बची हुई है।

धरती के पास सीमित संसाधन हैं लेकिन इतने हैं कि जीवित जनों के लिए पर्याप्त हैं लेकिन पूंजी आधारित मुनाफे पर बनती हुई दुनिया संसाधनों की असमानता बनाकर मनुष्य के मनुष्य के बीच अनेक फांक पैदा कर रही है। हमारा जीवन शुरू से ही सामूहिकता पर आधारित था। पूंजी ने निजी संपत्ति को जीवन की सफलता–सार्थकता में बदलकर हमारे मूल रूप को ही समाप्त कर दिया है।

पारंपरिक आदिवासी चेतना में संपत्ति पर सामूहिक अधिकार स्त्री–पुरुष समानता और जनतांत्रिक बोध पर आधारित है। अपनी सामुदायिक शक्तियों के कारण ही आदिवासी समाज पूंजीवाद के लिए सबसे बड़ा संकट है। वे इसे अपनी पद्धति में ढाल कर बाजार अनुरूप बनाकर इनका दोहन करते हैं या इनका दमन करके! आधुनिक ताकतें आदिवासी समाज की उलगुलानी एकजुटता और साहस से भी परिचित हैं।

दयामनी बरला आदिवासी स्त्रियों के संघर्ष पर लिखती हैं–

इन आदिवासी विद्रोहों का झंडा झुका नहीं क्योंकि आदिवासी महिलाएँ पीठ पर बच्चा बांधकर, हथियारों से लैस होकर पुरुषों का साथ दे रही थीं। उरांवों के इतिहास में सिनगी दाई एवं कोइली दाई, संथाल हूल में फूलो–झानो, बिरसा उलगुलान में मांकी मुंडा तथा जतरा टाना भगतों के संघर्ष बंधनी (देवमनी) ने अंग्रेजों के खिलाफ गौरवपूर्ण इतिहास बनाया।''

जाति और लिंग की असमानता हमारे समाज के कट्टरपंथ की उपज है जो सामंती समाज मे तो थी ही लेकिन आधुनिक समाज में और बारीक रूप में उभरी है।

वर्चस्वशाली समाज इतिहास और संस्कृति दोनों से छेड़छाड़ करता है। ब्राह्मण और वैष्णव समुदायों ने समूचे मध्यकालीन सूफी–संत और बुद्ध तक को अपने रंग में रंगकर पेश किया है ठीक उसी प्रकार अंग्रेजों से पहले आदिवासी संस्कृति को भी वैष्णवी रंग लगा दिया गया था, रही–सही कसर अंग्रेजों ने पूरी कर दी।

इसका प्रभाव यह हुआ कि आदिवासी समुदाय में भी लिंग और धर्म आधारित असमानता और कट्टरता पनपी है।

प्रख्यात कवि निर्मला पुतुल लिखती हैं–

''संबल औरतों के लिए वर्जनाएं और बंदिशें बहुत हैं। वह खेतों में हल नहीं चला सकतीं चाहे लाख खेती बिगड़ जाए। अगर हल छू लें धरती पलट जाएगी। मांझी हाड़ाम की पगड़ी गिर जाएगी। फिर सजोनी किस्कू की तरह हल में बैल बनाकर उसे जोता जा सकता है, खूंटे में बांधकर पुवाल और भूंसा खिलाया जा सकता है। इस तरह कठोर दंड विधान हैं उसके लिए। इस समाज मे हल की तरह तीर–धनुष छूना भी उसके लिए अपराध है।''

पहले भी और अब और अधिक आदिवासी समाज तेजी से बदला है और अपनी सामूहिकता–सामुदायिकता से दूर हुआ है। वर्ग–विहीन समाज भी वहां ऐसा नहीं रह है जैसा आदिवासी विमर्श के सम्मोहन में कहा जा रहा है।

हिंदी की बिलकुल युवतम कवयित्री पार्वती तिर्की लिखती हैं–

"धुमकुड़िया में
तीर कमान बनाने के तरीके सिखाये जा रहे थे
हथियारों में धार डाली जा रही थी
कुछ लोग विद्रोह के गीत बन रहे थे

वे नृत्य की भाषा में युद्ध करना चाहते थे
वे पाईका खेल रहे थे
गीत और नृत्य की भाषा में
वे अंततः बराबर हो जाना चाहते थे."

बावजूद इसके कथित सभ्य समाज जो पूंजीवादी संकटों से लगातार घिरता ही जा रहा है। ऐसे समाज के लिए भविष्य की मौलिक सोच आदिवासी समाज ही दे सकता है।

निष्कर्ष

स्पष्ट है कि सदियों से वंचित–शोषित आदिवासी समाज हमारी बुनियाद और नींव रहा है। आज के धन–पिपासु समाज में आदिवासी समाज को धकेलकर मुनाफे की फैक्ट्रियां लगायी जा रही हैं। आदिवासी संस्कृति में विद्रोह का स्वरूप भी रचनात्मक है। कुछ समुदाय यह प्रचारित करते हैं कि आदिवासी समाज हथियारों से लैस हिंसक समाज है और वह वन्य सम्पदा को नष्ट करता है। ऐसे लोगों को आंकड़ों के माध्यम से भी (हालाँकि अक्सर आंकड़े भी धनकुबेरों के हित अनुसार तय कर दिए जाते हैं) और अन्य माध्यमों से भी यह जानना चाहिए की सदियों से जल–जंगल–जमीन की सुरक्षा इन्हीं आदिवासियों ने की है और इनके रहते पर्यावरण संकट नहीं हुआ. पर्यावरण और वन्य–संकट की आधुनिक पूंजीवादी समाज और मुनाफे की संस्कृति है। इस कला में आदिवासी आज भी बेहतर वैज्ञानिक पद्धति से अपने समाज को संचालित करते रहे हैं।

संदर्भ सूची

1. आइलैया, *कांचा, हमारे समय में श्रम की गरिमा,* (अंग्रेजी से अनुवादः भरत त्रिपाठी)।
2. टेटे, वन्दना, (2021) *आदिवासी साहित्यः परंपरा और प्रयोजन,* नोशन प्रेस, चेन्नई।
3. सुंदर, नन्दिनी, (2009) *गुंडा धुर की तलाश में,* पेंग्विन प्रकाशन, दिल्ली।
4. महाश्वेता देवी, (2009) *जंगल के दावेदार,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. मुंडा, रामदयाल, (2014) *आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल,* प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
6. *समकालीन जनमत,* (दिसम्बर 2009), वन अधिकार कानून और आदिवासी–जंगलराज के हवाले।
7. *समकालीन जनमत,* (सितम्बर 2003), आदिवासीः मिथ और यथार्थ।

––==00==––